UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186270

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H. S1 G97N Accession No. PG1-14403

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

न्यू नायिका भेद

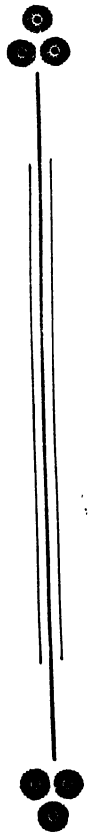

रचयिता

रसिकेंद्र

प्रकाशक :

चतुर्वेदी प्रकाशन समिति

कमतरी, आगरा (उ. प्र.)
शाखा : १४-७-३, बेगम बाज़ार
हैदराबाद दक्षिण (आं. प्र.)

प्रथम संस्करण : १०००

मूल्य ०.५०

प्राप्ति स्थान :
भारतीय पुस्तक भण्डार
बेगम बाज़ार, हैदराबाद-दक्षिण (आं. प्र.)

मुद्रक:
नेशनल फाइन प्रिंटिंग प्रेस,
चारकमान, हैदराबाद (आं. प्र.)

दो शब्द

स्वर्गीय द्वारिका प्रसाद गुप्त इतिहास प्रसिद्ध नगर कालपी के निवासी थे। वे गोहाई वैश्य थे। उनसे मेरा प्रथम परिचय 1920 में उरई के एक कवि सम्मेलन में हुआ था। उस समय उरई मे स्वर्गीय पांडत मन्नीलाल पाण्डे के कारण काफी साहित्यिक वातावरण बन गया था और वहां बहुधा कवि सम्मेलन हुआ करते थे। वहाँ स्थानीय कवियों की सख्या भी उत्साहवर्द्धक थी। उस कवि सम्मेलन में में उनकी कविताएँ सुन कर बड़ा प्रभावित हुआ। बाद में पाण्डे जी ने उनसे मेरा विधिवत् परिचय कराया, और वह परिचय प्रगाढ़ मित्रता में परिणत हो गया। वे साल में दो तीन बार प्रेम-वश मुझसे मिलने प्रयाग आते थे और पाँच-छः दिन मेरा आतिथ्य स्वीकार करते थे। मैं भी कई बार उनके घर कालपी गया। अपने पुत्र चि. गोविन्द के विवाह में उन्होंने मुझे साग्रह आमत्रित किया था।

ज्यों-ज्यों मैं उनके निकट सम्पर्क में आया. त्यों-त्यों मैं उनकी शालीनता, सहृदयता और विशुद्ध काव्य प्रेम से प्रभावित होता गया। उनके व्यवहार में अकृत्रिमता और चरित्र में अनोखी निर्मलता थी। तेजस्वी होते हुए भी उनमें सज्जन – सुलभ शिष्टता थी। अपनी वाक् चातुरी और काव्य पाठ की शैली के कारण वे गोष्ठियों में चमक उठते थे। उनमें विनोद-प्रियता भी काफी मात्रा में थी। वे हम लोगों के मनोरंजनार्थ भी कभी दूसरे कवियों की कविताओं को ऐसे विचित्र काकु से पढ़ते थे कि गंभीर कविताएं भी हास्यास्पद मालूम होती थीं। सारांश यह कि उनके साहचर्य से उनके मित्रों का बड़ा स्वस्थ मनो-विनोद होता था।

उनका उपनाम 'रसिकेन्द्र' था। इस उपनाम की भी एक मनोरंजक कहानी है। वे राष्ट्र-कवि मैथिली शरण जी गुप्त के बहनोई थे। बहुत कम लोगों को यह मालूम है कि आरंभ में गुप्त जी ब्रजभाषा में कविता करते थे और पुरानी परिपाटी के कवियों की तरह उन्होंने भी अपना उपनाम रखा था। वह उपनाम था —'रसिकेन्द्र'। बाद में जब वे खड़ी बोली में लिखने लगे तब भी कुछ दिनों उन्होंने इस उपनाम का प्रयोग किया। 'वैश्योपकारक' में उनकी कई कविताएं इसी उपनाम के साथ छपी थीं। किन्तु आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव में आकर उन्होंने न केवल ब्रजभाषा में कविता लिखना छोड़ दिया, किन्तु अपने उपनाम का उपयोग भी त्याग दिया। उसके कुछ दिनों बाद द्वारका प्रसाद जी गुप्त उनके बहनोई हो गये और वे कविताएँ करने लगे। वे प्रायः प्राचीन शैली की कविताएँ घनाक्षरी और सवैया छन्दों में करते थे। उस समय उन्हें किसी अच्छे उपनाम की तलाश हुई। उन्होंने मैथिली शरण जी से कोई अच्छा उपनाम बतलाने को कहा। गुप्त जी ने कहा कि मेरा पुराना उपनाम 'रसिकेन्द्र' बड़ा सुन्दर है। मैंने उसे छोड़ दिया है। तुम वही ले लो। इस प्रकार द्वारका प्रसाद जी 'रसिकेन्द्र' हुए और इसी नाम से उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की। मैं बहुधा विनोद में उनसे कहा करता था कि तुम्हें यह उपनाम दहेज में ससुराल से मिला है।

उनकी विनोद-प्रियता का एक उदाहरण बड़ा मनोरंजक है। एक दिन मुझसे बोले—"भैया, आज कल बिना छायावादी कविता लिखे कोऊ पूछत नाहीं है। हमने ढेरन कविता लिखी वै कोऊ हमारी ओर ध्यानई नाई देत। अब हम छायावादी कविता लिखें चाहत हैं, सो बताओ कैसे लिखें।" मैंने विनोद से कहा—"छायावादी कविता लिखना बड़ा सरल है। शब्दों में 'इल' प्रत्यय लगाते जाओ जैसे कि फेनिल, स्वप्निल। बस, कविता छायावादी हो जाएगी।" दूसरे दिन उन्होंने कहा कि मैंने 'छायावादी' कविता तयार कर ली है, और उन्होंने वह मुझे

सुनाई। उसका आरम्भ इस प्रकार था—

प्रेयसि ! कर प्रेमिल पान पान !
कत्थिल, चूनिल, लौंगिल, पुंगिल,
एलिल, बर्किल, खेलिल खिलान !

कविता बड़ी लंबी थी और 'पंतिल, आदि इलान्तक शब्दों की उसमें भरमार थी। हम दोनों ही उस कृति पर बहुत हँसे।

रसिकेन्द्र जी कवि-सम्मेलनों में यथा संभव भाग लिया करते थे और समस्यापूर्ति में बड़े दक्ष थे। उन्होंने सैकड़ों समस्या पूर्तियाँ कीं जिनमे अनेक बड़ी चमत्कार पूर्ण थीं। साथ ही उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी। इनमे कई नाटक भी थे। सब मिला कर उनकी लिखी पुस्तकों की सख्या 17 है, जिनमे कई खड–काव्य ओर तीन नाटक (गोपाल विजय, बलिबंधन, सतीत्व रक्षा) है। शेष मुक्तकों के सग्रह हैं। इनमें कुछ काव्य खड़ी बोली मे और कुछ ब्रजभाषा मे है। कुछ खंड–काव्य भी है।

जहाँ तक हमें मालूम है उनकी पहिली प्रकाशित पुस्तक 'आत्मसमर्पण' नामक खंड–काव्य है। यह सन् 1919 ई. में गंगा पुस्तक माला से प्रकाशित हुआ था। यह खड़ी बोली में है। इसमें रूपनगर की राज-कुमारी प्रभावती के महाराणा राजसिंह द्वारा मुगलों के पंजों से उद्धार करने की रोमांचक कथा है। इस खंड–काव्य की कथा में प्रवाह है, वर्णन ओजस्वी और भाषा प्रांजल है। उनकी आरम्भिक कृति होने पर भी इसकी प्रौढ़ता देख कर आश्चर्य होता है। खड़ी बोली का स्वरूप इसमें बड़ी अच्छी तरह उभरा है। उदाहरण के लिए यह छन्द देखिए––

वह देखो, हटता जाता है
कठिन निशा का अब अधिकार,
उषा-काल का जान आगमन
कुक्कुट भी कर उठा पुकार।
किन्तु आज इसकी बोली से
हलचल है क्यों चारों ओर ?
नहीं, नहीं ! यह तो है भीषण
मारू बाजे का रव घोर।

रसिकेन्द्र जी भारतीय संस्कृति के पुजारी होने के अतिरिक्त देश-प्रेम की भावना से भी ओत-प्रोत थे। इस काव्य में भी उन्होंने सैनिकों द्वारा भारत का कीर्ति-ज्ञान कराया है—

तेरे तत्वों से मिल कर यह
हमने धारण किया शरीर।
तेरे नीर, समीर, धूल से
रक्षित हो कहलाए वीर।
कैसे भला भूल सकते हैं
हम तेरे उपकार महान,
जय जय मातृ-भूमि हे भारत !
जय जय प्यारे हिन्दुस्थान।
निराकार ईश्वर भी तुझमें
आकर बनना है साकार,
हुए तुझी में पवित्र वे
राम, कृष्ण आदिक अवतार।

*

कर्ण, भीष्म, अर्जुन तुझ में ही
वीर हो गये हैं बलवान,
जय जय मातृ-भूमि ! जय भारत !
जय जय प्यारे हिन्दुस्थान !

इसी श्रृंखला में उनके अन्य खंड काव्य (पारिजात-विजय, कालिबध आदि) है। इन सभी में उनकी प्रबन्ध काव्य रचना की प्रतिभा भली भांति निखरी है।

सारे देश के अतिरिक्त उन्हें बुदेलखंड के प्रति भी असीम प्रेम था। बुन्देल खंड उत्तर प्रदेश का पिछड़ा क्षेत्र है। इसलिए यहाँ की प्रतिभाएँ उपेक्षित रही। मैथिली शरण गुप्त, वृन्दावन लाल वर्मा आदि दो चार व्यक्ति अपवाद हैं। रसिकेन्द्र जी ही के सम-कालीन माहोरजी, घासीराम व्यास आदि अपने क्षेत्र के बाहर समाहृत नही हुए यद्यपि वे सब ऊंचे दर्जे के कृतिकार थे। क्षेत्र के पिछड़ेपन के कारण वहाँ प्रकाशन, समाचार-पत्र आदि का अभाव रहा है। उससे उनकी कीर्ति सुरभि बुंदेलखंड के बाहर नहीं फैल पायी। अपने क्षेत्र के गौरवशाली अतीत और प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति की सेवा का ध्यान कर और उसकी उपेक्षा देख अपने क्षेत्र के प्रति उनकी ममता और भी उद्दाम हो उठी. बुंदेलखंड की महिमा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

उर्वर भव्य धरा है यहां की
छिपे पड़े रत्न यहाँ अलबेले,
मुण्ड चढ़े यहाँ चण्डिका पै,
उठ कण्ठ लड़े है यहीं असि ले ले।

खण्ड बुंदेल की कीर्ति अखण्ड
बना गये वीर प्रचण्ड बुंदेले;
झेल के संकट, खेल के जानपै
खेल यहीं तलवार से खेले।

राम रमे बनवास में आकर
है गिरि की गुरुता को बढ़ाया।
पादप पुंज ने दे फल-फूल
किया शुभ स्वागत है मन भाया।

रामलला की कला ने यहीं
अबला बन के है प्रताप दिखाया,
जीवन धन्य हुआ 'रसिकेन्द्र'
पावन भूमि में जन्म जो पाया।

उनके अन्य संग्रहों में शृंगार, वैराग्य, देश-भक्ति, समाज आदि विषयों पर मुक्तक हैं, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक मुक्तकों का संग्रह होते हुए भी उन सबसे भिन्न है। इसमें आधुनिक समाज के ऊपर व्यंग्य है। रीति कालीन नायिका भेद में नाना प्रकार की स्त्रियों का वर्णन है, जो अपने अपने वर्ग की प्रतिनिधि हैं। उस युग में भी वैवाहिक जीवन में विषमता थी, दंभ था और पाखंड था। रीति-कालीन कवियों ने उस समय की स्थिति के अनुसार उनका वर्गीकरण कर दिया था। मनुष्य स्वभाव सदैव एकसा ही रहता है। जब विषमता होगी और जब अनमेल विवाह होंगे तब उसके परिणाम भी होंगे। किन्तु मध्य-कालीन समाज में धर्म के बंधन तथा सामाजिक संस्कार स्वच्छन्दता के लिए बड़ी रोक थे—यद्यपि वे भी उन्हें सर्वथा रोकने में असमर्थ थे क्योंकि जब स्त्रियों या पुरुषों में शारीरिक वासना उद्दाम होती है तब सूक्ष्म या

अप्रत्यक्ष कारण उन्हें रोकने में बहुधा असमर्थ ही प्रमाणित होते हैं। मनुष्य की प्रकृति आज भी वही है, केवल सामाजिक परिवेश बदल गया है। इस नवीन परिवेश में शिक्षा और संस्कार भी बदल गये हैं, किन्तु समाज में स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध की मान्यताएँ अब भी पुरानी ही हैं। काम संबंधी प्राचीन नैतिकता, कम से कम सिद्धान्त रूप में, समाज ने आज भी नहीं छोड़ी। आज विषमताओं के कारण और रूप भिन्न हैं, और इसलिए उनके परिणाम भी, कम से कम ऊपरी रूप में, पहिले से भिन्न हैं।

रसिकेन्द्र जी भारतीय संस्कृति के भक्त थे और आधुनिक समाज की स्त्रियों के रंगढंग उन्हें पसंद न थे। वे उनसे समझौता नहीं कर सके। अतएव उन्होंने उन पर व्यंग्य करके अपना मत व्यक्त करने का निश्चय किया।

शिष्ट और सुरुचिपूर्ण व्यंग्य लिखना अत्यन्त कठिन है—तिस पर यदि वह महिलाओं पर लिखा जाए तो और भी कठिन हो जाता है। उसमें लेखक जरा सी चूक से अशिष्ट हो सकता है, या किसी ऐसे शब्द का प्रयोग कर सकता है जो संचेत्य पाठक को सुरुचि से च्युत मालूम पड़े। मैं यह दावा तो नहीं करूंगा कि रसिकेन्द्र जी की प्रत्येक पंक्ति इस कसौटी पर खरी उतरेगी, किन्तु मैं यह निःसंकोच कह सकता हूं कि सब मिला कर उन्होंने शिष्टता और सुरुचि का यथासंभव ध्यान रखा है।

हास्य और व्यंग्य का आनन्द वे ही उठा सकते हैं जनमें हास्य-बोध (सैन्स आफ ह्यूमर) हो, और जो अति शुद्धतावादी (प्योरिटन) तथा आवश्यकता से अधिक संचेत्य पाठकों के पढ़ने योग्य व्यंग्य लिखने वाले जब कभी ही—यदा कदा—पैदा होते हैं। अतएव पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इन छंदों को केवल आनन्द और मनोरंजन के लिए उदार हृदय होकर पढ़ें। पाठक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि

वह कवि के प्रत्येक विचार या दृष्टिकोण से सहमत हो। उसे तो इस बात पर विचार करना चाहिए कि कवि ने अपनी बात किस और कितने प्रभावशाली ढंग से कही है और वह व्यंग्य करने में कितना सफल हुआ है।

यह तथ्य कि रसिकेन्द्र जी के समान गंभीर विषयों के लेखक ने यह व्यंग्य वाणावली भी लिखी, इस बात को प्रमाणित करता है कि वे वर्तमान समाज के एक विशिष्ट वर्ग के रंगढंग से संतुष्ट नहीं थे। यह उनके असंतोष का प्रकाशन मात्र है। इससे यह न समझना चाहिए कि वे एकदम पुराण-पंथी थे। जहाँ तक हम उन्हें समझ सके वे स्त्री शिक्षा के पक्षपाती थे, किन्तु वे चाहते थे कि हमारी महिलाएं भारतीय मर्यादाओं का पालन करें।

यह पुस्तक रसिकेन्द्र जी को एक व्यंग्यकार के रूप मे प्रस्तुत करती है। इस ढंग की यह उनकी एक मात्र कृति है। हमे विश्वास है कि सहृदय और रसिक पाठकों का यह पर्याप्त मनोरंजन करेगी। इसे प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक हिन्दी ससार के हार्दिक धन्यवाद के पात्र है।

—श्री नारायण चतुर्वेदी

५३, खुर्शेदबाग
लखनऊ (उ० प्र०)

१८—३—६९

स्वर्गीय रसिकेन्द्र जी

लेखक—बनारसीदास चतुर्वेदी

सात जुलाई सन् १९४२ को मैंने एक चिट्ठी बन्धुवर रसिकेन्द्र जी की सेवा मे भेजी थी, जिसमे उनसे यह प्रार्थना की गई थी कि वे अपनी कविताओं का संग्रह मेरे लिए कर दें। उत्तर देते हुए उन्होंने मुझे २१–७–४२ को लिखा था—

"आपके इस कृपा-पत्र ने तो कमाल ही कर दिया। मालूम होता है कि आप अपनी कृपाओं का इतना भार मेरे ऊपर लाद रहे है कि शायद मुझे उसके लिए चिर ऋणी रहना पड़े! मैं क्या? और मेरी तुकबन्दियाँ ही क्या? एक कोने में, ऐसे स्थान मे जहां कोई सहायता एवं सुलभ साधन नही है—बैठा-बैठा अपना समय किसी प्रकार तुक-बन्दियां लिख कर काटता रहता हूं, और क़रीब चालीस वर्ष सेवा करते-करते बिता भी दिये है, जो कुछ वर्ष शेष है, उन्हे भी इसी प्रकार काट देना चाहता है। इसी दशा में आप मुझे प्रकाश में लाने की कृपा करने की उदारता दिखलाना चाहते है। अरे भाई! बैठे-बिठाये क्यों व्यर्थ में एक झंझट मोल ले रहे हो? जिस कार्य से मैं बचता चला आया, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो जिस प्रकार आजकल विज्ञापन–युग के प्रभाव द्वारा अन्य सहयोगी आगे बढ़ कर लाभ उठा रहे हैं—संभव था कि मैं भी लाभ उठा लेता, क्योंकि इसमें सन्देह नही कि अब तक जितने काग़ज़ मैंने काले कर डाले है, उनकी संख्या किसी प्रख्याति प्राप्त सह-

योगी के काग़ज़ों से कम न होगी। जी हा ! आपने जिस प्रकार कृपा करने की उदारता दिखलाई है, एतदर्थ हार्दिक धन्यवाद देता हुआ चिरकृतज्ञ हूँ।"

रसिकेन्द्र जी के इस पत्र ने मेरी आँखें खोल दीं। जिस कवि ने चालीस वर्ष तक निरन्तर साहित्य सेवा की हो, उसके जीवन की अन्तिम दिनों की इस निराशाजनक स्थिति का वृतान्त पढ़ कर मुझे आश्चर्य और खेद भी हुआ। यह तो मैं समझ सकता था कि सच्चे कवि बड़े स्वाभिमानी तथा संकोचशील होते हैं और वे आत्म विज्ञापन से दूर ही भागते हैं, पर दुःख मुझे इस बात का था कि रसिकेन्द्र जी के भक्तों, सहयोगियों तथा पाठकों ने उनकी इनकी उपेक्षा क्यों की ?

सोच-विचार करने के बाद यह बात मेरी समझ में आई कि हिन्दी जगत के प्रतिष्ठित कवि और लेखक वस्तुतः आत्म केन्द्रित हो गये है, और उनके मन में अपने छुटभइयों को आगे बढ़ाने की कोई इच्छा नहीं है। रसिकेन्द्र जी राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण जी और सियारामशरण जी के बहनोई होते थे और यदि वे दोनों महानुभाव चाहते तो रसिकेन्द्र जी को प्रकाश में लाने के लिए भरपूर प्रयत्न कर सकते थे, पर संभवतः उनके पास इतना समय ही न रहा होगा। इसके सिवाय दूसरों को प्रोत्साहन देने का धंधा बहुत खर्चीला है और इस व्यापार में केवल तीन व्यक्ति सफल हो सके थे—आचार्य द्विवेदी जी, पं० पद्म सिंह जी शर्मा और अमरशहीद गणेश शंकर जी विद्यार्थी। आज हमारे साहित्य उपवन के लिए ऐसे वटवृक्षों की (जिनकी छाया में कोई पौधा नहीं पनप पाता) उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कुशल मालियों की, जो नये किस्मों को फलने-फूलने का अवसर प्रदान करें।

बुन्देलखण्ड का यह अभिशाप रहा है और काव्य-रचना के लिए

सर्वोत्तम प्राकृतिक दृश्यों से परिपूर्ण उपयुक्त होते हुए भी उस जनपद के साहित्य सेवी और कवि प्रायः उपेक्षित ही रहे हैं। किसी ने उन्हें आश्रय नहीं दिया। स्व० महाराजा वीर सिंह जू 'ओरछेश' ही एक-मात्र अपवाद थे, किंतने ही साहित्य-सेवियों को संरक्षण प्रदान किया था। इन पंक्तियों का लेखक तो आजीवन उनका ऋणी रहेगा। उनकी छत्रछाया में साढ़े चौदह वर्ष बिताने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। ओरछेश ने मुंशी अजमेरी जी और अम्बिकेश जी, रामाधीन जी खरे ब्रजेश जी प्रभृति कई कवियों को आश्रय दिया था और उन्होंने कई लाख रुपये मातृभाषा हिन्दी की उन्नति के लिए व्यय भी किये थे।

उपेक्षित होने की जो बात स्व० रसिकेन्द्र जी ने लिखी थी, उसे स्व० घासीराम जी व्यास अपने २३ जुलाई १९३९ के पत्र में पहले ही लिख चुके थे—

"मुझे तो असीम आनन्द हुआ कि इस अज्ञात ऊजड़ देश के एक भूले भटके की ओर आपकी दृष्टि पड़ी। नहीं तो आजकल पूछता कौन है? सब अपनी-अपनी दौड़ में मगन है और बुन्देलखण्डी? वे न तो संगठित ही हैं और न आधुनिक पैंतरेबाजी से परिचित ही। नहीं तो क्या इस उर्वरा पवित्र भूमि में एक भी पन्त, बच्चन या दिनकर न सही उनका पिछलगुआ भी पैदा न होता और हो सकता है, किन्तु सभी को शिकायत है अपनी असमर्थता की, अपनी अवहेलना की, उपेक्षा की—और ठीक भी है। साधनहीन और कमजोर की संसार में कोई गुजर नहीं।...कई बार अपने लोगों से (जिन्हें अपना समझा) कहा, सब कुछ कहा, पर किसी के किये कुछ न हुआ। किसी ने कुछ किया भी तो नहीं, संभव है उचित न समझा हो या अपने पन में ही भूल रहे हों! खैर इसमें क्या, अपने तो सब श्रद्धास्पद ही हैं। यह विचार ईश्वर साक्षी है, मैंने किसी व्यक्तिगत ठेस या दुख से न हीं प्रकट किये।

अनेक सुरभित सुमन —

"अन्त समय निज मातृभूमि की शीश चढाई धूल वहीं के वहीं संसार मे दूर अज्ञात अपरिचित और अछूते रह गये, झड़ गये, किसी ने पूछा भी नही, जाना भी नही ।"

रसिकेन्द्र जी का जन्म सन् १८९२ ई० हुआ था और मृत्यु १९ अप्रैल १९४३ में । पिछले पच्चीस वर्षों में हम लोगों ने उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए क्या किया ? नई दिल्ली के हिन्दी भवन में अवश्य ही उनके चित्र का उद्घाटन बन्धुवर श्री नारायण चतुर्वेदी के द्वारा करा दिया गया था । रसिकेन्द्र जी की कई किताबें अप्रकाशित पड़ी हैं और कई ऐसी भी हैं, जिनका पुनर्मुद्रण होना चाहिए, पर किसी का ध्यान इधर नहीं गया । और तो और उनके नगर कालपी का हिन्दी भवन भी उनकी कीर्तिरक्षा के लिए कुछ भी न कर सका ।

फरवरी १९४३ की बात है—श्री रसिकेन्द्र जी ने चरखारी से एक कविता मुझे भेजी थी । उसका नाम था—'आत्म-आश्वासन' उस कविता के साथ उन्होंने मुझे एक पत्र भी भेजा था, जिसमे उन्होने लिखा था— "आज बाद मुद्दतों के आपको पत्र लिख सका हूँ, मजबूरी थी । कारण यह था, मेरी तबीयत यों तो श्रावण से ही खराब हो रही थी, परन्तु इधर दो महीने से बहुत बिगड़ गई थी । इसलिए पौन महीने कानपुर में दवा कराई, किन्तु लाभ नहीं हुआ । वहाँ से दो-दिन घर रह कर यहाँ आठ जनवरी को किसी प्रकार पहुँच गया.....अतिसार संग्रहणी के चक्कर में पड़ गया हूँ, देखिये भगवान कब आप लोगों के दर्शन का सौभाग्य प्रदान कराता है । अब की बार यही इच्छा थी कि बसन्त का मेला कुण्डेश्वर का अवश्य देखूँगा, परन्तु ईश्वर को यह मंजूर था कि यहाँ असमर्थ अवस्था में समय बिताऊँ, हरि इच्छा प्रबल है । इधर

शैय्या पर लेटे-लेटे 'वसन्त की डाली' प्रसून हो गई ! मैंने यही उचित समझा कि मैं नहीं पहुंच पाया हूं तो कुण्डेश्वर की भेंट इसे ही कर दूँ।"

"आत्म-आश्वासन" कविता के दो छन्द सुन लीजिये :—

होने लगा सुख का समावेश है, भाग्य के क्लेश भरी दुखगाथ में :
चित लगा अब तो रसिकेन्द्र है, श्री ब्रजनाथ अनाथ के नाथ में। :
जो है अभीष्ट उसे वही हो रहा, है सुख में दुख में वही साथमें
है कविराज के जीवन कै तरी, आज 'हरी कविराज' के हाथ में।

० ० ० ०

सान्त्वना हो रही चित्त में, सोचके, साथ में हैं प्रण पालने वाले,
है 'रसिकेन्द्र' का भूलना संभव, किन्तु वे भूल सँभालने वाले।
डूबते दास के पास में आकर, हैं गर हाथ निकालने वाले,
प्रेम-पुजारी को पार लगायेंगे, कृष्ण है संकट टालने वाले।

इस कविता और चिट्ठी के पहुँचने के सवा दो महीने बाद १४ अप्रैल १९४३ को रसिकेन्द्र जी का स्वर्गवास हो गया और हम लोग उनके दर्शन से वंचित रह गये। उनकी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व कालपी में उनके घर जाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

बन्धुअर सियारायशरण जी मेरे साथ थे। उस समय रसिकेन्द्र जी ने अपनी कई रसीली कविताएँ हमें सुनाई थीं। मैं ठीक-ठीक तो नहीं कह सकता, पर इतना मुझे अवश्य स्मरण है कि उन कविताओं में 'न्यू

नायिका भेद के भी दो-एक छन्द थे। रसिकेन्द्र जी ने उसे यों शुरू किया था—

न वह समय नायक न वह, न वह नायिका आज,
नव समाज नव सभ्यता, हैं नव-नव सब साज।

रसिकेन्द्र जी ने कविता और नाटक की छोटी-बड़ी सत्रह किताबें लिखी थीं, जिनमें केवल आठ ही प्रकाशित हो सकीं और बाकी नौ जहाँ की तहाँ पड़ी हैं। अप्रकाशित पुस्तकों के नाम ये हैं—

१. पारिजात विजय (खण्ड काव्य) २. वालिवध (खण्ड काव्य) ३. गोभक्त दिलीप (नाटक) ४. वलिबंधत (नाटक) ५. सतीत्व रक्षा (नाटक) ६. स्वदेश वन्दना ७. रसिकेन्द्र रंजन ९. अवगुंठन।

रसिकेन्द्र जी का खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों पर ही समान रूप से अधिकार था। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने 'बुन्देलखण्ड की पावन भूमि' नामक कविता लिखी थी। उसके चार छन्द सुन लीजिए :—

उर्वराभव्यधरा है यहाँ की,
छिपे पड़े रत्न यहाँ अलवेले।
मुण्ड चढ़े यहाँ चण्डिका पै;
उठ रुण्ड लड़े हैं यहीं असि ले-ले।
खण्ड बुन्देल की कीर्ति अखण्ड,
बना गये वीर प्रचण्ड बुन्देले।
झेल के संकट, खेल के जान पै,
खेल यहीं तलवार से खेले।

० ० ० ०

स्वर्ग में सादर पा रहा आज भी,
भावुक मानसों का अभिनन्दन ।
दर्शन देते रहे जिसको तन--
धार प्रसन्न हो मारुतिनन्दन ।
पावन प्रेम का पाठ पढ़ा दिया,
प्राण प्रिये ने किया पद वन्दन ।
प्राप्त हुई तुलसी को रसायन,
राम-कथा का यहीं घिस चन्दन ।

० ० ० ०

अंचल में हरिताभ लिये तने,
वेत्रवती के वितान को देखा ।
गूंज पहूँज की कान में गूंजती,
पंचनदी के मिलान को देखा ।
कृत्रिम रत्न प्रदायिनी केन की,
शान को देखा धसान को देखा ।
द्वार में भानुजा के सजे निर्मल,
नीलिम-वेश विधान को देखा ।

० ० ० ०

राम रमे वनवास में आ कर,
है गिरि की गुरुता को बढ़ाया ।

पादय–पुंज ने दे फल-फूल,
किया शुभ स्वागत है मनमाया।
राम लला की कला ने यहीं,
अचला वत के है प्रताप दिखाया।
जीवन धन्य हुआ 'रसिकेन्द्र' का,
पावन भूमि में जन्म है पाया।

जिस पवित्र भूमिखण्ड–बुन्देलखण्ड–में रसिकेन्द्र जी ने जन्म लिया था और जिसके गौरव को बढ़ाने के लिए उन्होंने निरन्तर चालीस वर्ष तक साहित्य-साधना की, वह जनपद उनकी कीर्तिरक्षा के लिए कुछ भी न कर सका ! बन्धुवर श्री मधुसूदन चतुर्वेदी के हम ऋणी तथा कृतज्ञ है कि उन्होंने हमारी प्रार्थना पर रसिकेन्द्र जी की इस छोटी-सी पुस्तिका 'न्यू नायिका भेद' को प्रकाशित कर दिया है।

*

निवेदन

(संक्षिप्त परिचय)

पिताजी (स्वर्गीय रसिकेन्द्र जी) का जन्म सन् १८६२ ई० में कालपी जिला जालौन (उत्तर प्रदेश) में हुआ था तथा मृत्यु १४ अप्रैल सन् ११४३ में हुई।

इनके पिता जी का नाम श्री पूरनलाल था। इनका पूरा नाम द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेन्द्र' था। ३ वर्ष की अवस्था में ही इनके पिता जी का देहान्त हो गया था। इन्होंने पाठशाला मे कक्षा २ तक शिक्षा ग्रहण की किन्तु हिन्दी, अँग्रेजी, बँगला, गुजराती, उर्दू, मुडिया तथा संस्कृत का इन्हें ज्ञान था। बंगला की कई पुस्तकों का इन्होंने हिन्दी–अनुवाद किया।

कविता की रुचि इन्हें १६–१७ साल की अवस्था से ही हो गई थी, और उसके बाद विशेष प्रेरणा श्री मैथिलीशरणजी गुप्त (मामाजी) के यहां सम्बन्ध हो जाने से तथा स्वर्गीय मुंशी 'अजमेरी' जी के सम्पर्क से मिली थी। उरई निवासी स्वर्गीय 'काली-कवि' को अपना गुरु मानते थे। 'भारत धर्म महामंडल काशी' द्वारा इन्हें साहित्यालंकार की उपाधि मिली। खनियाधाना (बुन्देलखंड) के राजा श्री खनकसिंहजी ने 'कवीन्द्र' एवं राजकवि' की उपाधि प्रदान की थी। जातीय कार्यों में भी सदैव रुचि रहती थी। आप अखिल भारतवर्षीय श्री गहोई वैश्य महा–सभा के १९ वें अधिवेशन ग्वालियर के अवसर चुने गये थे। कविता

द्वारा आप जनता-जनादन मे राजनैतिक चेतना जागृति करते रहे, सन् १९३९ में अपनी सरकार द्वारा कालपी में बैच के अवैतनिक न्यायाधीश नियुक्त हुए और जीवनपर्यन्त रहे। इनकी ८-९ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी और करीब ८-१० पुस्तकें अप्रकाशित हैं। मेरी अभिलाशा है कि उनका साहित्य प्रकाश में आ जावे ताकि मैं उसे सुरक्षित रखने के भार से मुक्ति पा जाऊं। मुझे प्रसन्नता है कि पूज्य श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी पिताजी पर भी सदैव कृपा करते रहे हैं। उनके साहिाय के द्वारा उनको अमर बनाने में प्रयत्नशील हैं, इसके लिए मैं श्री चतुर्वेदीजी का परम आभारी हूं, और सदैव रहूँगा। मेरे योग्य जो सेवा होगी, उसके लिए सदैव प्रस्तुत हूं।

—गोविन्द शरण गुप्त

रसिकेन्द्र-कुटीर
कालपी
दिनांक—११-१२-५९

अनुक्रम

स्वर्गीय रसिकेन्द्रजी : श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

निवेदन : श्री गोविन्द शरण गुप्त

मंगलचरण	१	मेला-मिलाप्रिनी	११
दो शब्द	२	प्लीडर-पतिका	१२
जैन्टिलमैन पतिका	३	वियोगिनी-डाक्टरनी	१३
पार्क-प्रेमिणी (प्रौढ़ा)	३	आधुनिक अनुरागिनी	१३
मध्या	४	प्रेम प्रवाहिनी	१४
सुगंधिनी	४	ग्रेजुएट प्रोषित-पतिका	१४
सभ्या वचन-विदग्धा	५	बैरिष्टर प्रोषित-पतिका	१५
फैशन-पसन्दिनी	५	स्वतन्त्रता-प्रेमिणी	१५
कौंसल-किल्लोलिनी	६	बाल-विवाहिता	१६
वायु-विहारिणी	६	वृद्ध-पतिका	१६
ब्रह्म-वादिनी	७	अभागिनी	१७
प्रचंडिनी	७	कलहिनी	७१
शिखंडी-पतिका	८	धर्मत्यागिनी	१८
स्पष्ट-वादिनी	८	मुराद-मंगिनी	१८
झांकी-प्रेमिणी	९	होली दुःखिनी	१९
पूजा-प्रेमिणी	९	कौन्सिला-प्रोषित-पतिका	१९
अलबेली चेली	१०	थानेदारिनी-प्रोषित-पतिका	२०
लीला-विहारिणी	१०	मोटर-विहारिणी	२०
मिलन-दुःखिता	११	प्रेम-दीमानी	२१
लिखट्टू पतिका	११	मृगया-प्रेमी-पतिका	२१

कानी घूंघट-घालिनी २२
नृत्य-रत मित्र को चेतावनी
षंड-पतिका २३
बन्दी-पतिका २४
प्रोषित पंडिता २४
टिकट चेकर पतिका २५
रात-बाबू-पतिका २५
मिसी-मिस इंगलिश २६
प्रेम-पेड़ा प्रदायिनी २६
पैंजना झनकारिनी २७
बवर नारी २६
घोंघा वसंत पतिका २८
धन है २६
अनमेलिनी ३०
सैरकारिणी ३०
जल विहारिली ३१
पुनः पूर्ति ३१
प्रेम-पान प्रदायिनी २३
सुमन-पतिका ३२
रेडियो विरोधिनी ३३
प्रकृति के प्रति ३४

श्रीहरि

न्यू नायिका-भेद

मंगलाचरण

(दोहा)

विहरत ब्रज-बीथीन में, बरस्यो सुरस रसाल,
लीला मदनगुपाल की, दूर करे दुख-जाल।

प्रेम-पुजारी पूर्ण प्रभु, जय जय चारु चरित्र,
जय-जय प्रेम-पुजारिनी, जय जय प्रेम पवित्र।

दो शब्द

जा ब्रज-भाषा में भर्‌यो, रस शृंगार भण्डार,
ताही में कहिवो उचित 'न्यू नायिका' विचार।
न वह समय, नायक न वह, न वह नायिका आज,
नव समाज, नव सभ्यता, हैं नव-नव सब साज।

x x x

न्यू नायिका-चरित्र को लिखत लगत है लाज,
धन्य जानिहौं, जाइ जो किंचित सुधर समाज।
नित प्रति जो अनुभव कियो, देख दृगन सों हाल,
सोई लिख्यो विचारि कै है न झूंठ कछु जाल।

x x x

है विश्वास, कि समझ के अप्रिय सत्य अगाध,
क्षमा करेंगी देवियाँ, सब कवि के अपराध।

जैन्टिलमैन पतिका

फैशन-फन्द में हाय, फँसी,
प्रिय, फर्स्ट किलास को 'पास' लै आवें,
डारि दयौ परदा 'परदा' पर,
टेबिल 'कोच' पै रैस्ट करावें।
आप तौ सैल सपाटे करें, फिरें,
बाबू इतै बरें चित्त चलावें।
झमत, घूमत, चूमत द्वार को,
'वेटिंग रूम' में धूम मचावें।

पार्क-प्रेमिणी (प्रौढ़ा)

व्याकुलता बढ़ती दिन रैन,
न चैन परे मनसा ललचानी।
जाऊँ कबै, वहाँ खाऊँ हवा,
बहलाऊँ मनै, छबि छाऊँ सुहानी।
आपके हाथ में हाथ मिलाइ कै,
साथ में सैर करौं मनमानी।
मेमनि को लख नित्य को नेम,
भई पिय पार्क के प्रेम दिमानी।

मध्या

साथ चलौंगी मैं पार्क, परन्तु,
न हाथ में हाथ मिलाइहौं प्यारे।
घूमिहौं खूब विनोद बढ़ाइहौ,
पीछे रहौंगी पै घूंघट मारे।
कौन को है इतवार वहाँ, तुम्हें—
होन न देउँगी नैन से न्यारे।
क्योंकि निहारत खांस इसारिन,
केतिक छैल वहाँ मतवारे।

सुगंधिनी

रोकत हौं हर बार तुम्हें, पर—
आप करो अपनी मनमानी।
नीके फुलेल न बेला, चमेली के,
नीति विदेश की चित्त समानी।
इत्र स्वदेशी सुहात न मोहिं,
लवेन्डर की खुशबू सुख-सानी।
ताब न क्योडा, गुलाब की है पिया,
लाइये मोहिं एसेन्स हिमानी।

सभ्या वचन-विदग्धा

बात कछू उनकी मत पूछो,
वे लाखन में बस एक दिखावें।
'फ्रीडम' के रँग में रँग के,
समता, क्षमता, ममता अपनावें।
हैं 'हसबैन्ड' उदार विचार के,
फ्रेन्डन से 'इयकहैंड' करावें।
'चान्स' दें प्रेम प्रकाशन को--
रहें दूर ही, देर लौं पास न आवें।

फैशन-पसन्दिनी

पैंजन, झांझ, बड़ान, छड़ान की--
बेड़ियाँ पाँयन में न पिन्हाइये।
बाजू, बरा, ककना, दुहरी,
पिय चूड़िन सों मत हाथ छिलाइये।
जेवर जान के गाहक होत हैं,
नाहक में मत दाम फँसाइये।
गोल्डन 'वाच' कलाई कौं चाहिये,
आँखन कौं चसमा बस लाइये।

कौंसिल-किल्लोलिनी

सीखि चुकी, अँगरेज़ी सबै,
अरु तेजी जबान की पूरी दिखाऊँ।
हिन्दी की चिन्दी उड़ाइ चुकी,
अरु फ़ारसी ऊपर ख़ारसी खाऊँ।
हैं अधिकार समान तियान के,
क्यों न इन्हें उपयोग में लाऊँ।
पास हूँ बी. ए. बढ़ी अभिलाष—
कि—कौंसिल की कुरसी कब पाऊँ।

वायु-विहारिणी

जात जहाँ सब जैन्टिलमैन,
मिलै मन चैन हहै मजबूरी।
वायु यहाँ की सड़ी गली है,
चली आवै वहाँ भली शीत से पूरी।
सोचत क्या, दुख मोचत क्यों नहीं?
दौलत है, तो नहीं कछु दूरी।
ग्रीषम ताप से तापित है तन,
आप चलौ पिया शीघ्र मसूरी।

ब्रह्म-वादिनी

'ब्रह्म' सु एक है, भेद कछू नहीं,
वेदन ने महिमा यह गाई।
तो फिर एक समान सबै जन,
जानौं परस्पर भेद न भाई।
पीतम सौं पुनि साँवरे यार सों,
एक सरीखी करौं मैं मिताई।
दोष लगावतीं, नाहक ही फिर,
ब्रह्म को पंथ सदा सुखदाई।

प्रचंडिनी

आँख दिखावत, हाथ उठावत,
लाज न आवत, आज सुधारिहौं।
मोल बिसाहि के आई न मैं,
तुम एक कहौगे, मैं चार उचारिहौं।
सीधे न मानौ, तो दावा करौंगी,
मैं कोनहू भाँति से मौन न धारिहौं।
ढाढ़ी हौ, बाढ़ो है गाढ़ो गुसौ,
रहु डाढी बरे धरि मूंछ उखारिहौं।

शिखंडी-पतिका

आपनी भूल दिखात तुम्हें नहिं,
पन्थ भल्यो प्रतिकूल कबूल्यो।
बाँधी गरे से डरे न, टरे तब--
शूल निरालो हिये बिच हूल्यो।
जंग अनंग के संग ठनी इतै,
अंग उतै न उमंग सों ऊल्यो।
कौन निबैहै, बचैहै, भलौ यह--
पावक-पुंज में पंकज फूल्यो।

स्पष्ट-वादिनी

भावत ना घर को वर माखन,
चाखन चाहत छांछ जुठारी।
भौंर बने बिचरो नित आप,
बनाय चिरी पिंजरा मोहिं डारी।
शाम से जात, न आवत रात में,
प्रात दिखावत आन खुमारी।
'जौ पर नारी है प्यारी तुम्हारी,
तौ क्यों न बनौं मैं पिया, पर-नारी।

झांकी-प्रेमिणी

झांकी की झांकी है बांकी बनी,
पलना में पर्‌यो जहाँ नंद दुलारो।
ऊँची अटारी पै न्यारी प्रभा लसी,
द्यौस में चन्द को फैलो उजारो।
जा पहुँची पहुँची न निगाह,
कराह उठी न चल्यो कछू चारो।
याद घड़ी-घड़ी आवै घड़ी,
नहिं भूलत लाल-रुमाल है प्यारो।

पूजा-प्रेमिणी

मन्दिर की महिमा सब जानत,
मोहिनी मूर्त्ति की ज्योति जगी है।
देख चुकी 'लटका' अटका मन,
रोकिबे की खटका हू भगी है।
पाप कटैं पर दर्शन पर्शन,
नेम की वासना प्रेम पगी है।
पीतम के हित में चित है नित,
पूजा पुजारी की प्यारी लगी है।

अलबेली चेली

देखि महातम दूर हटो तम,
आतम तत्व गहौ गहि सेली।
जान चुकी जग नित्य असार ही,
साधना भक्ति की सार सकेली।
छूटो गृहस्थी की झंझट से झट,
नित्य सुछंद रहौं मैं अकेली।
बाबा विलासी मिलें सुखरासी—
तौ मैं अलबेली कहाऊँगी चेली।

लीला-विहारिणी

(सखी का उपदेश)

सास जिठानी रिसानी रहैं न,
सु-बानी सुना उनकौ फुसलाइ लै।
'पास परोस की जातीं सबै,
कहि कें यही मौधू-पियैं समझाइ लै।
ऐसौ सुयोग जुरै न सदा—
बुझि हे, लगी साथ ही माल उड़ाइ लै।
हीला अबै 'रामलीला' को है,
मिलि छैल-छबीला सों छाती जुड़ाइ लै।

मिलन-दुःखिता

कौन सुनै, दुःख कासौं कहौं,
सब हाय, बटोही बने गुमराही।
देखिबे को पर-छिद्र फिरैं
अपने घर की नहिं देखैं तबाही।
बाधक, साधक, स्वार्थ सने,
करने नहिं देत कहूँ चित-चाही।
भूत की नाईं परे रहैं पीछे,
अनोखे भये हैं बरैं ये सिपाही।

निखट्टू पतिका

दीपत दीपन की अवली, भली,
फैल रही हर ओर उजाली।
लट्टू निखट्टू जुआं पै भये,
लै गये लड़ पीट के झूमका बाली।
नाहक सोच सँकोच करै,
दुख मेट, सहेट की भेंट सौं आली।
सूझत बूझत क्यों न अबै,
उठ, यार सों जूझि कै पूज दिवाली।

मेला-मिलापिनी

वर एक से एक नई शकलें,
दिखलातीं जहाँ खुल खेलन में,
बहु छैल छबीले टिमाके फिरें,
गणना जिनकी हैं बहेलन में।
उठ, हूक हिये की मिटेगी सबै,
मत चूक उमंग सकेलन में।
अति रेलन-ठेलन को सुख है,
अलि क्यों न चलें बलि मेलन में

प्लीडर-पतिका

धन्य 'मवक्कल' धन्य, किताबन,
धन्य महान अदालत हैं री।
प्रेम 'नजीरन' सों दिन रात,
दिखात न मेरी जो हालत हैं री।
हैं मनहूस सबै दिन, केवल,
'सण्डे' ही दर्द निकालत हैं री।
'ला' लत लागत मोहि बुरी,
हिय सालत हाय वकालत है री।

वियोगिनी डाक्टरिनी

बीत गयी बरसैं सौ सरीखी,
भली, डाक्टरी डिगरी उन पाई।
नित्य करैं 'अपरेशन' कौ,
मन तासों कठोर भयो दुखदाई।
याद भुलाई कमाई के फेर में,
फीस सों जेब रहैं गरमाई,
और को दैंत दबाई फिरैं,
घर की न करैं पर हाय दवाई।

आधुनिक अनुरागिनी

(घनाक्षरी)

छल छलिया की छवि जब सौं समानी हिय,
तब सौं दिमानी भई हाय, पानी-पानी मैं।
पढ़ी-पढ़ी पढ़त रहत प्रेम-पाती नित,
घड़ी-घड़ी घड़ी की निहारत निशानी मैं।
ननद, जिठानी सौं सकानी रहौं 'रसिकेन्द्र'
सूझै न उपाय करौं कैसे मनमानी मैं।
टेरत सिरानी, दृग फेरत बिरानी भई,
घेरत डिरानी, हाय, हेरत हिरानी मैं।

प्रेम-प्रवाहिनी

मूंद चुकी दृग दोऊ रुकी नहिं,
कूद चुकी रस-सिन्धु अथाह में।
ऊब चुकी पति की गति सों,
मति डूब चुकी महबूब की चाह में।
नाहक रोकतीं हौ अब तौ तुम,
डाल सिवाल के जाल कौं राह में।
लाज समाज की है परवाह न,
जान बही कह प्रेम-प्रवाह में।

ग्रेजुएट प्रोषित-पतिका

सर्विस की तिसना में पड़े,
निज उद्यम में विसवास करें ना।
कीट किताबन के बन के,
मन से छिन दूर किलास करें ना।
छुट्टिन हू तक में करें सैर,
घरें मन मार निवास करें ना।
ऐम. ए. पास की है अभिलाष,
हा, आश हमारी कौं 'पास' करें ना।

बैरिस्टर-प्रोषित-पतिका

ए–बी, पढ़ी, उलटाय लई, अरु,
'ऐल मिले युग, 'बी' छवि धारे।
ताहू पै चैन परै न, बैरिस्टरी––
लेन विलायत आप पधारे।
रोऊँ इकंत में भाग्य कौं बैठि के,
हंत हिमन्त में कन्त हैं न्यारे।
काम-कमान के बान चलैं,
अब हाय, कहाँ लौं रहौं मन मारे।

स्वतन्त्रता-प्रेमिणी

पूज्य पिता जी, सुनौ विनती,
नई विद्या पढ़ाई मुझे जो घनेरी।
तौ अब डालिए बन्धन में न,
पुराने बिचार की कीजै न चेरी।
हाँ, पति ऐसे मिलैं तौ भले बरौं,
रंच हरैं न स्वतन्त्रता मेरी।
ओट रहैं अपवाद के हेतु,
औ कान धरी जो बनै रहैं छेरी।

बाल-विवाहिता

जब आई विदा ह्वै कहाई 'बड़ी बहू',
पाई सुहाग की है रजनी।
तब केलि के भोन में, गोद में मोद सों,
लाई उन्हें भर चार जनीं।
वह जानें नहीं रस-रंग कछू,
मचलें, बिलखें, शिशु-रूप धनी।
हिय चाहै इतै गल-मेलन कौं,
उतै खेलें खिलौनन सों सजनी।

वृद्ध-पतिका

सुन्दर-अंगना रंग भरी इक—
रोवत थी निज बैठि दुआरे।
एक बटोही ने पूछी व्यथा-कथा
'क्यों वर-वाम तूं आंसू निकारे?
बाल कही-सब हाल सुनो तुम,
है मम अंग अनंग प्रजारे,
बालम हैं बुढ़ऊ दम आवत,
रोवत हौं निज बाप कौं प्यारे।

अभागिनी

मारे रहौं मन, कासौं कहौं दुःख,
आली, सबै यह भाग्य के फेर हैं।
गांठ जुरी जिन सौं उनके मन,
गांठ परी हा, रहे मुँह फेर हैं।
कौड़ी न देत कबौं हँसि कै,
पै, बजारू-तिया के लिए वे कुबेर हैं।
कंठ लगाइबे में बने स्यार,
पै-हाथ चलाइबे में बने शेर हैं।

कलहिनी

(मित्र-प्रति दुःखी पति)

मित्र, न मानी तुम्हारी कही सही,
दे रही आज वही हा, कलेश है।
लोभ की लीला से लाली गई,
मतवाली कुलाली की साली विशेष है।
यार के प्यार को त्यार रहे,
पड़ती न कुनार सों एकहू पेश है।
ठानत मान को ठान ह्वै मानिनी,
जान के खान को ध्यान हमेश है।

बाल-विवाहिता

जब आई विदा ह्वै कहाई 'बड़ी बहू',
पाई सुहाग की है रजनी।
तब केलि के भौन में, गोद में मोद सों,
लाई उन्हें भर चार जनीं।
वह जानैं नहीं रस-रंग कछू,
मचलैं, बिलखैं, शिशु-रूप घनी।
हिय चाहै इतै गल-मेलन कौं,
उतै खेलैं खिलौनन सों सजनी।

वृद्ध-पतिका

सुन्दर-अंगना रंग भरी इक—
रोवत थी निज बैठि दुआरे।
एक बटोही ने पूछी व्यथा-कथा
'क्यों वर-वाम तूं आँसू निकारे?
बाल कही-सब हाल सुनो तुम,
है मम अंग अनंग प्रजारे,
बालम हैं बुढ़ऊ दम आवत,
रोवत हौं निज बाप कौं प्यारे।

अभागिनी

मारे रहौं मन, कासौं कहौं दुःख,
आली, सबै यह भाग्य के फेर हैं।
गांठ जुरी जिन सौं उनके मन,
गांठ परी हा, रहे मुँह फेर हैं।
कौड़ी न देत कबौं हँसि कै,
पै, बजारू-तिया के लिए वे कुबेर हैं।
कंठ लगाइबे में बने स्यार,
पै-हाथ चलाइबे में बने शेर हैं।

कलहिनी

(मित्र-प्रति दुःखी पति)

मित्र, न मानी तुम्हारी कही सही,
दै रही आज वही हा, कलेश है।
लोभ की लीला से लाली गई,
मतवाली कुलाली की साली विशेष है।
यार के प्यार को त्यार रहैं,
पड़ती न कुनार सों एकहू पेश है।
ठानत मान को ठान ह्वै मानिनी,
जान के खान को ध्यान हमेश है।

धर्म-त्यागिनी

भावन जो मिलते मन के,
उनके पद-पावन को अपनाती।
प्रेम दिखाते लगाते हिये,
कबौं तो न कुपंथ में भूलि के जाती।
खाती न ठोकरें दीन, मलीन ह्वौं,
आपनो दीन हू हा, न गँवाती।
धर्म गयो, शुभ कर्म गयो,
कुल-शर्म गई, अब मौत न आती।

मुराद-मंगिनी

भली आई बसंत की पंचमी हे,
उमग्यो परै अंग उमंग के कारन।
मन मारि कैं कैसे रहौं मैं भला,
जब जात वहाँ नर-नारि हजारन।
मुख, लाल कौ देखि निहाल मैं होउँगी,
फूंक फकीरन की दुख टारन।
तन मर्दन-मर्दन सौं हुलसै,
अब माँगन जैहौं मुराद मदारन।

होली दुःखिनी

छानत भंग उमंग के हेतु,
पै-अंग ने आलस के ढंग धारे।
रंग-सुरंग चलावत हैं, पै—
न देखें अनंग के रंग-नज़ारे।
साँच हू काँच में रत्न गँवाइ कें,
नाच में जाइ बनें मतवारे।
कैसे हैं वे 'मनई' जिनके घर,
होरी में गोरी रहें मनमारे।

कौन्सिला-प्रोषित-पतिका

नाह की चाह वहाँ भरमी,
गरमी में कहाँ लौं यहाँ हरसें।
आखिर झेल-झमेल बिना,
झट रेल की सैलन में सरसें।
कौंसिल-चेम्बर के बन मेम्बर,
होटल-मध्य सुधा बरसें।
रोग सखी री लग्यो अँखियान कौं,
देखन ही कौं उन्हैं तरसें।

थानेदारिनी-प्रोषित-पतिका

(घनाक्षरी)

रात दिन शीश पर रहै तफतीश चढ़ी,
प्रेम-परिपाटी भूल, पाटी पढ़ी गारी की।
बढ़ी लोभ लालसा सनी है स्वार्थ-साधना में,
चोर, बदमाश की तलाश खास जारी की।
मौज में खलल डाल रही खोज खूनिन की,
यहाँ रोय-रोय रोज़ रोज़ इन्तज़ारी की।
जान-खान नौकरी से मोड़त नहीं हैं मुख,
छोड़त न आन, प्रानपति थानेदारी की।

मोटर-विहारिणी

पीनस में रस ही न रह्यौ,
बस फैशन-ओल्ड को दूर हटाओ।
सारी, सवारी, निकारीं हैं चित्त सों,
बग्घी विचारी के पास न जाओ।
बातैं करौ टरकी-टरकी नहिं,
मास्टर की 'टर' कौ दिखलाओ।
आई अबै पढ़िकै कढ़ि कैं,
बढ़ि मोटर पै चढ़ि सैर कराओ।

प्रम-दीमानी

आज बहां तो वहां कल हैं,
परसों करते हैं कहूँ इनक्वारी।
खेतन-खेतन घूमें कबौं,
कबहूँ तफतीश छिपी हुई जारी।
चैन से रैन में सोवैं नहीं,
रहती है दिमाग गिरी की खुमारी।
औरन को इनसाफ करें, पें--
नहीं सुनें वे फरियाद हमारी।

मृगया-प्रेमी-पतिका

मारत नित्य मृगी मनहारिनी,
चंचलता जिनमें हैं समानी।
जीवन के धन कौं तज हाथ,
विचारी करें तन दे मिहमानी।
हाय, दशा का कहौं उनकी,
नहीं कोऊ उन्हें समझावत ज्ञानी।
जो तज बाहर की मृगया,
घर में करतूत करें मनमानी।

पुनः

(कवित्त)

बान रिपु-नाशन की आन के पड़ी है, और,
बल के प्रकाशन की शान चित धारते।
हो कर अहेरी मृगया से मति फेरी नहीं,
चेरी बनी वीरता को नित्य ही सँवारते।
हाय, मैं सुनाऊँ किसे मन की व्यथा की कथा,
सर्वथा ही दूर से हैं आरती उतारते।
मारते न मार को जो वार करें बार-बार,
प्राणाधार शेखी हैं शिकार की बघारते।

काना घूँघट-घालिनी

हूक उठै लखि नैन-बँदूक को,
लूक लगावै अचूक निशानो।
दिव्य दोऊ दृग देखे बिना,
दुखिया दिल को न लगैगो ठिकानो।
ह्वै अँगुरीन-कमान के बान सों,
जान के खान को ठान न ठानो।
हालतीं, टालतीं, शालतीं हो,
यह काहे को घालतीं घूँघट कानो?

नृत्य-रत मित्र को चेतावनी

सबै भूलिहैं ज्ञान की बातैं यहाँ,
सुर-ताल के तालन सौं बचियो।
जिनमें उलझे सुलझे न कबौं,
उलझे उन बालन सों बचियो।
कलि की कलिका ये बनावटी हैं,
भ्रम वाले मृणालन सों बचियो।
मन मोहक-चालन सों बचियो,
नथ के बिछे जालन सों बचियो।

षंड पतिका

जोश जवानी ह्वै पानी रह्यौ,
मुलतानी रँगी अँगिया बिनसैहै।
बैर अनंग के संग तुम्हारो,
वही बदला वह मो सों चुकैहै।
पीठ दै लेटि हौं, भेंटि हौ का,
अलसेंठ ये नाहक दाग लगैहौ।
'प्यारे पिया' तुम न्यारे परौ,
अनियारे-उरोज-अनी गड़ि जैहै।

वन्दी पतिका

पिया ओढ़ें परे हैं उतें कमरा,
इतें खाली पर्‌यो हमरो कमरा।
पिया मांज रहे हैं उतें 'तसरा',
हम मांज रहीं अपनो तसरा।
पिया फोड़ रहे हैं उतें पथरा,
हम छाती धरे अपने पथरा।
पिया पाथ रहे हैं उतें खपरा,
इतें फूट रहे घर के खपरा।

प्रोषित पंडिता

भूलि गये गृह-साइत सोधिबो,
चाव सों चाकरी कौ अपनावें।
साथ में राखिबो भार दिखात है,
छुट्टिन सें मन तोष धरावें।
खंडित आस हमारी करें,
'इस कूल' के पंडित वे कहलावें।
धौंस दिखावें, न आवें घरें बरें,
बोर्डिंग-हौस में होस मिटावें।

टिकट चेकर पतिका

(कवित्त)

सफर में रोज़-रोज़ टिकट करत चैक,
देखत न फौज जो मनोज की है उतरी।
तौलत न मेरो मन, काँटो ह्वै रह्यो है जौन,
काँटो ले-ले तौलत मुसाफिर की गठरी।
जान को न डर, हर-बर में करत पार,
डिब्बन की बार-बार ऊँची-नीची पटरी।
घरी-घरी रात की भयंकरी करत घात,
बैरिन ह्वै पाछे परी टिकिट-कलक्टरी।

रात-बाबू-पतिका

चाँदनी चन्द्र की चारु निहार,
चकोरी सी चित्त उचाट रही हौं।
तारे के 'डाट' गिनै वे उतैं,
हिय-तार कुतार को डाट रही हौं।
बाँट रहे उतै वे टिकिटैं,
इत सिन्धु उमंग को पाट रही हौं।
नाइट-ड्यूटी ने लूटी सखी,
पड़ी 'कोटर' में निशि काट रही हौं।

मिसी-मिस इंगलिश

(यमकालंकार)

'लाइट-म्यू' की थी 'लाइट' 'लाइट',
की इन क्वाइट ह्वाइट-लाली।
राइट - राइट, क्वाइट - राइट,
नाइट ने गुड - नाइट पाली।
यों 'इसप्रिंग' कसी 'इसप्रिंग' से,
है 'इसप्रिंग' की नीति निराली।
पालिसी प्रामिस की 'मिस' की,
किसके मिस से मिस है मिस डाली।

प्रेम-पेड़ा प्रदायिनी

जो सुलझें सुलझाये नहीं,
उलझे दिल में हैं नये उलझेड़े।
हाथ न आये गये साथ को,
होली में हास्य के दैकें थपेड़े।
मोहक थे मन के छलिया,
पिसतादिक मेवन से थे लपेड़े।
हूलते शूल से मित्र के चित्त में,
भूलते हाय न प्रेम के पेड़े।

पैंजना झनकारिनी

(कवित्त पूर्त्ति)

रंग्यो आल रंग लाल लुँगरा कमाल कर,
उन्नत उरोज बने ओज अंचला के हैं।
घूँघट की ओट करैं चोट कजरारे नैन,
लोट पोट होत भट विकट लड़ाके हैं।
'रसिकेन्द्र' चलती मतंग सम मत्त चाल,
चल रहे अंकुश अनंग की कला के हैं।
'चौंके चार नाके सुन शब्द के खनाके,
उठ झाँके वीर बाँके, बया झनाके पैंजना के हैं।

बबर नारी

नाथ कर नाथ सों सनाथ किए प्राननाथ,
देवर को दे वर, उमंग उर दरसी।
लोचन लड़ाई से लड़ाई जाती लाड़ली है,
घूँघट की ओट होती नज़र नज़र सी।
सास पर शासन, ननंद अनुशासन में,
नित्य ही ससुर जी की करती है बरसी।
धीरता है हारी बलिहारी गई वीरता, ये—
बीसवीं सदी की वीर नारी है बबर सी।

घोंघा बसंत पतिका

झूल उठे सुखमूल सु-फूल,
न क्यों अनुकूल होवे घर आवैं।
प्रेम-प्रवाहक चाहक नाह हो,
नाहक दाहक देर लगावैं।
अंग उमंग जगावै अनंग,
वे रंग में भंग के ढंग दिखावैं।
कन्त वे घोंघा-बसन्त ही हैं,
जो, बसंत की रात बसंत बितावैं।

धन है

धन है वर आनन की सुषमा,
चित चातुरी चोज मयी धन है।
धन है रचना 'रसिकेन्द्र' नई,
कवि कल्पना खोज मयी धन है।
धन है मुसकान रसायन सी,
वर आँख सरोज-मयी धन है।
धन कंचुकी ओज-उरोज-मयी,
मन-मौज मनोज-मयी धन है।

x x x

धन पंडित साइत सोधी नई,
भई मंडप में वटिया धन है।
धन है मन की यह माँग खरी,
धन माँग भरी पटिया धन है।
धन पालकी, बैठि के बात चली,
'रसिकेन्द्र' भली अटिया धन है।
धन रात सुहाग की है टटकी,
खटकी जहाँ सो खटिया धन है।

x x x

अनमेलिनी

(कवित्त)

पूर्व दिशि जाने की तरंग जो उठी है यहाँ
पश्चिम के जाने की उमंग है वहाँ भरी।
'रसिकेन्द्र' इनका निवास भद्दा सा यहाँ,
चलता नहीं है वहाँ काम ही बिना जरी।
इनका प्रकाश यहाँ तम से नहीं है कम,
वहाँ छवि छिटकी है विश्व में उजागरी।
पट सकती है कैसे विकट विषमता है,
नागर गँवार और नागरी गुणागरी।

सैर-कारिणी

(कवित्त)

जानें का भयो है तुम्हें हरत स्वतन्त्रता हो,
हृदय में गाँस भरे कैसे सांस भरिहौं।
नारिहू नई हौं, तैसी कार हू नई है यह,
विपिन-विहार कौं अकेली ही निकरिहौं।
अपने समान 'ओल्ड' मोटर चलैया लाये,
या के साथ भूलि कहूँ कदम न धरिहौं।
जाने सभ्यता के रंग-ढंग, अंग-रक्षक हो,
ऐसे यंग ड्राइवर संग सैर करिहौं।

जल विहारिणी

(कवित्त)

कान्ति कमनीय निर्मला थी कला कारिणी की,
कौंधी चंचला सी जब कार से थी उतरी।
'रसिकेन्द्र' स्वच्छ अति सलिल सुहावने में,
पैर फटकार पैरती थी छवि की परी।
ध्यान को लगाये बक तकते ही थक गये,
आ सकी न हाथ रूप सागर की सफरी।
क्रीड़ा कर काम-कन्दुकों से केलि कर-कर,
करती किलोल कसे कटि में कनस्टरी।

पुनः पूर्ति

बस, वह एक देखने की चीज़ थी ज़रूर,
कौन किसकी थी? क्या थी? ज्ञात है न हिस्टरी।
ध्यान भूले ध्यानी, और भूले गुरु ज्ञानी ज्ञान,
रही मुंह देखती वकीलों की बैरिस्टरी।
जीवन को जीवन की भेंट करने को कूदी,
किन्तु मिट पाई नहीं मोहन की मिस्टरी।
बाल मृदु बोल-बोल, डोल, लोल लहरों में,
करती किलोल कसे कटि में कनस्टरी।

प्रेम-पान प्रदायिनी

आँख मिला कर, भौंह चला कर,
प्रेम-कला करि कै इठलाना।
खींचत चुम्बक हो मन को,
मुसका के इशारों से पास बुलाना।
दाब-के नाज़ से हाथ में बीड़े को,
भाव बताना कि है तुम्हें खाना।
क्या ही भला लगता है अहा,
खुद खाकर पान अँगूठा दिखाना।

सुमन-पतिका

मिलत लतान में पतान में छिपत कहूँ,
खिलत कहूँ हैं करि प्रेम उपवन से।
'रसिकेन्द्र' सरस सुवास को बसाइ उर,
रहत घिरे हैं मन-मौजी मधुपन से।
कोमल करन पर करत किलोल कहूँ,
सूँघे कहूँ जात, लिपटात कहूँ तन से।
सजनी-समाजन को साजन लगत साज,
लाजन मरी में, मिले साजन सुमन से।

रेडियो विरोधिनी

दिन भर चक्कर में रहत वकालत के,
देखत सुनत हैं अदालत की थतियाँ।
रहत भरी है हिय होंस ही हमारे हाय,
चार घड़ी सुख से करैं न प्रेम-बतियाँ।
दिये हैं फँसाय दाम दामिनी-बनावटी में,
कौन ने बसाई मन उनके कुमतियाँ।
ऊँघ, अलसाय, आय क्यों न पलिका पै गिरैं,
देत हैं बिताय रेडियो में आधी रतियाँ।

प्रकृति के प्रति

विश्व-प्रकृति है अरी, बावरी,
वृथा बँधाती बोर,
बावरी वृथा बँधाती बोर।

(१)

प्राकृत-प्रभु से प्रेरित हो कर पहन बसन्ती चीर,
लाई नव-सन्देश साथ में, वेरा बदल गँभीर।
आई है वितरण करने को--तू, स्वच्छन्द समीर,
किन्तु--जहाँ पर-तंत्र पड़े हों दुख-पिंजड़े में कीर।
वहाँ कहाँ है आज बताओ, स्वतन्त्रता को ठौर।

बावरी, वृथा बँधाती बोर।

(२)

श्री-पंचमी सुहाई, आई ऋतु-नायक की रात,
कभी बिचारी पर, तू ने उन बेचारों की बात।
ऐसे समय, शीत से कँपते जब हैं थर-थर गात,
नाम अमर कर रहे कमर कस, समर-शूर सिर मौर।

बावरी, वृथा बँधाती बोर।

(३)

तू दिखलाती निर्मल-नभ में, चन्द्रकला विख्यात,
किन्तु, न क्यों दिखलाई देती-व्योम-बहिन-बरसात।
चारों दिशि ही उथल-पुथल है, हलचल है, उत्पात
होता बेकस दीन जनों का नाहक रक्त-प्रपात।
आतंकित, शंकित मन प्रमुदित हो सकते किस तौर,

बावरी, वृथा बँधाती बौर।

(४)

तू दरसाती हरी-भूमि की कृषि का प्रकट प्रभाव,
किन्तु जहाँ पर बिना काल के हैं अकाल के भाव।
हैं दुर्लभ वस्तुएँ, वहाँ क्या होगा वेश-बनाव,
चिन्तित-चित्तों में चढ़ सकता कैसे तेरा चाव।
क्षुधा समर की, छीन रही है सबके मुँह के कौर।

बावरी, वृथा बँधाती बौर।

(५)

जा, उन ऊँचे प्रासादों में भले जमा ले रंग,
होती रहती जहाँ रात दिन कमला-कला अनंग।
विविध उमंगों की उठती है, जिनमें तरल तरंग,

जो न जान सकते कि जान के संग लगी है जंग।
खबर नहीं जिनको बसंत की चलें दौर पर दौर,

बावरी, वृथा बँधाती बोर।

(६)

होता क्या दुनिया में, इसकी क्या न तुझे परवाह,
आ कर अपनी वही पुरानी गह लेती है राह।
तो, क्या-हो 'बस-अन्त' सभी का यही, रही है चाह,
किन्तु, कहाँ फिर प्रकट करेगी, चिर-अस्तित्व-अथाह।
सच्ची दशा देखना है, तो देख दुखी की पोर,

बावरी, वृथा बँधाती बोर।

(७)

प्रीति परस्पर की तोड़ी है, भ्रातृ-भाव को भूल,
हाय, लड़ रहे भाई-भाई, मति-गति है प्रतिकूल।
है बढ़ रही भयंकर कटुता, बिछे मार्ग में शूल,
हृदय सरों में कहाँ दीखते, खिले प्रेम के फूल ?
कितने माथों में देखी है--खिची भक्ति की खोर।

बावरी, वृथा बँधाती बोर।

स्वर्ग विहारिणि, हिय हारिणि तू सृष्टि-सौख्य का सार
सुजलाम्, सुफलाम्, शस्य श्यामलाम् तेरी शक्ति अपार।
सुखदाम्, वरदाम् शीघ्र खोल दे दिव्य दया का द्वार,
स्वागत करें मुदित मन हो कर, हर ले संकट भार।
सानदित 'रसिकेन्द्र' कहे--ला देवि सुफल दे और,

बावरी, वृथा बँधाती बौर।

विश्व प्रकृति है अरी, बावरी, वृथा बँधाती बौर।

(कवि की अन्तिम रचना)

समिति के प्रकाशन

१.	साहित्य : (आलोचना के सिद्धान्त)	.५०
२	द्वितीय महासमर : (खण्ड काव्य)	.५०
३.	प्रसाद का आँसू : आलोचना और व्याख्या	२.००
४.	विश्राम : (नाटक)	२.००
५.	भर्तृहरि शतक : ब्रज-भाषा काव्यानुवाद के साथ	३.००
६.	मंजरी : (कविताओं का संग्रह)	२.००
७.	वृन्दावन : ब्रज भाषा की कविताएँ	१.२५
८.	झाँसी की रानी : (नाटक)	२.००
९.	तीन फूल : अनुवाद 'निधिनेह' द्वारा।	.७५
१०.	वनवासी के गीत : (कविताएँ) भोजराज चतुर्वेदी	१.५०
११.	अँग्रेजी नाट्य-साहित्य खण्ड १	१.५०
१२.	श्रेष्ठ कहानियाँ :	२.००
१३.	वीरजा : स्व. कविवर शिशुपाल सिंह जी 'शिशु'	.५०
१४.	साँझ के स्वर : (कविताएँ) श्रीमती शैलबाला	२.००
१५.	यूरोप की डायरी :	३.००
१६.	सन्त ज्ञानेश्वर . जगमोहनलाल चतुर्वेदी	३.००
१७.	नीहारिका : श्री दामोदर चतुर्वेदी (कविताएँ) ब्रज-भाषा	.५०
१८.	शिला और लहरें : (कविताएँ) श्री भोजराज जी	१.५०
१९.	हौरेशस : स्व. सत्यनारायण कवि रत्न द्वारा अनुवाद	०.५०
२०.	पशु : मलयालम नाटक का अनुवाद	१.५०
२१.	अँग्रेजी नाट्य-साहित्य खण्ड २ (प्रेस में)	१.५०